आवास, पुनर्वास और सरकार

– दुनू रॉय
17.1.2002

पिछले वर्ष स्वतंत्राता दिवस के अवसर पर प्रधानमंत्राी महोदय ने लाल किले की प्राचीर पर खड़े होकर वादा किया था कि देश के शहरों में रहने वाले सभी गरीब परिवारों को सन 2010 तक रहने के लिए पक्का घर मुहैया कराया जायेगा। छह सप्ताह बाद, विश्व आवास दिवस के दिन, केन्द्रीय मंत्राीमंडल ने प्रधानमंत्राी की घोषणा को असली जामा पहनाने के मकसद से बाल्मिकी अंबेडकर आवास योजना का सूत्रापात किया। तय किया गया कि इस योजना के तहत अगली पंचवर्षीय योजना के दौरान 2000 करोड़ रु. खर्च किये जायेंगे। इसके बाद, केन्द्रीय शहरी विकास मंत्राी ने घोषणा की कि सार्वजनिक क्षेत्रा के संस्थान शहरी गरीबों के लिए प्रति वर्ष चार लाख घरों का निर्माण करेंगे। इन सब घोषणाओं, योजनाओं और इनसे जुड़े आँकड़ों को तार्किक संगति की कसौटी पर परखा जाये तो खुलासा होगा कि प्रधानमंत्राी के वायदे और उसे असली जामा पहनाने के लिए बनायी जा रही योजनाओं में कितना भारी अंतर्विरोध है।

हमारे देश में छोटे.बड़े कुल मिलाकर 5161 शहर है। यदि एक घर को बनाने में 50000 रु. भी लगते हैं (यह वह रकम है जो दिल्ली नगर निगम के अनुसार आज एक झुग्गी–झोंपड़ी का सिर्फ 'पुनर्वास' करने पर खर्च होती है) तो बाल्मिकी अम्बेडकर आवास योजना के तहत हर शहर में औसतन सिर्फ 15.5 घर बनेंगे। इस रफ्तार से तो राजधानी दिल्ली के मौजूदा छह लाख झुग्गी परिवारों को पुनर्वासित करने में ही 39000 वर्ष लग जायेंगे।

इस सरल से गणित से शायद हमारी सरकार भी अवगत रही होगी। तभी तो प्रधानमंत्राी द्वारा नियुक्त किये गये मंत्रियों के समूह ने शहरी गरीबों के लिए मकान के निर्माण के लक्ष्य को चार लाख से बढ़ाकर 20 लाख मकान प्रतिवर्ष कर दिया। परन्तु कन्फेडरेशन ऑफ रिएल एस्टेट डेवलपर्स एसोसिएशन ऑफ इंडिया ने हाल के अपने एक विज्ञापन में दिखाया है कि एक परिवार यदि मेट्रो शहरों की परिधि पर बने उपनगरों में 40 वर्ग मीटर का रसोईघर सहित एक कमरे का निर्मित मकान लेना चाहे तो उसे लगभग दो लाख रु. देने होंगे। यदि उसे 75% का ऋण भी दिया जाये तो भी 15 वर्षीय ऋण की मासिक किश्त होगी 1860 रु.। यह रकम एक झुग्गी परिवार की औसत मासिक आमदनी की तकरीबन 75 फीसदी है। इसी से पता चलता है कि गरीब को आवास मुहैया कराने के बारे में सरकार किस कदर गंभीर है और प्राइवेट बिल्डरों से पूछो तो वे तो यही कहेंगे कि इस समस्या का समाधान इसी तरह से हो सकता है कि उन्हें खुली छूट दे दी जाये और सरकार सिर्फ यही करे कि बैठ बैठे हमारी पीठ थपथपाती रहे।

सार्वजनिक और निजी क्षेत्रा के इन बहादुर पैरोकारों में से कोई हमें यह नहीं बताता कि आवास निर्माण के क्षेत्रा में पिछले पचास वर्षों में उनका क्या रिकार्ड रहा है। मिसाल के तौर पर दिल्ली को ही लें। 1981 के अपने मास्टर प्लान में डी.डी.ए ने कहा था कि वह अगले 20 वर्षों में 16ण्2 लाख घरों का निर्माण करेगा। 1998 में डी.डी.ए ने रिपोर्ट किया कि उसने केवल 2.6 लाख मकान बनाये थे। इसके अलावा 2.5 लाख मकान उन लोगों ने बनाये जिन्हे डी.डी.ए

ने प्लॉट आबंटित किया था। यानि बने केवल 5.1 लाख घर। तो बाकी के 11.1 लाख मकान कहाँ गये? या वह 8500 हेक्टेयर जमीन (1985 के बाद अधिग्रहित की गयी 20000 हेक्टेयर जमीन की तो बात ही छोड़ दें) जिन पर ये मकान बनने थे?
दूसरी तरफ, प्राइवेट बिल्डरों ने निश्चित रूप से शहर में बहुत बड़ी बड़ी रिहायशी एवं आवासीय इमारतें बनायी हैं। लेकिन गरीबों के लिए उन्होंने एक मकान भी बनाया हो इसका रत्ती भर भी कोई सबूत नही मिलता है।

हां, डी.डी.ए. यह कुख्यात दावा जरूर करती है कि उसने इस अवधि में 2.4 लाख झुग्गी परिवारों को 'पुनर्वासित' किया है। हालांकि डी.डी.ए. के अपने मास्टर प्लान में सिर्फ 50000 झुग्गी परिवारों के पुनर्वास का प्रावधान है और पिछले कुछ वर्ष ही लगभग 25000 झुग्गी परिवार विस्थापित किये गये। जबकि इस वर्ष 80000 को विस्थापित करने का लक्ष्य रखा गया है। भूतपूर्व शहरी विकास मंत्रीा श्री जगमोहन ने तो आत्म प्रशंसा में छाती ठोककर यहाँ तक दावा किया है कि ये 'आदर्श' पुनर्वास है। सच्चाई, हमेशा की तरह, शासकों के इन शाही दावों के ठीक विपरीत है। आवास अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त संस्था हैबिटेट इंटरनेशनल कोएलिशन ने पिछले वर्ष मार्च में 1976 से 2001 के बीच बसायी गयी। ऐसी दस पुनर्वास कालोनियों का अध्ययन किया। इस अध्ययन से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि इनमें से एक भी कालोनी उन दर्जनों अंतर्राष्ट्रीय संधियों और समझौतों में स्थापित किए गये एक भी मानक को पूरा नहीं करती जिन पर भारत सरकार ने खुद हस्ताक्षर किये हैं।

आर्थिक एवं भौगोलिक पहुँच, सुरक्षा और पारदर्शिता की तमाम मानक जरूरतों का सरकार ने लगातार और जानबूझकर उल्लंघन किया है। परन्तु इस तरह का अध्ययन भी ''पुनर्वास'' के असली अनुभव के साथ पूरा न्याय नहीं कर सकता है।
''पुनर्वास'' का अनुभव ''पुनर्वासित'' किये गये लोगों के लिए कितना दर्दनाक होता है यह जानना हो तो उत्सुकजनों को अंकुर स्वयंसेवी संस्था के कार्यकर्ताओं द्वारा उत्तरी दिल्ली में स्थित भलस्वा पुनर्वास कालोनी में हाल ही में किये गये 100 घरों के सर्वेक्षण को देखना होगा। इस सर्वेक्षण में 98ः लोगों ने कहा कि उनके घर में खाने के लाले पड़े हुए हैं क्योंकि उनका रोजगार या तो छिन गया है या आमदनी आधी रह गयी है। इसकी वजह यह है कि भलस्वा कालोनी उनकी पुरानी रिहायश की जगह – जो उनकी काम की जगह के नजदीक थी – से 20 कि.मी. से ज्यादा दूर है। दूरी ज्यादा होने के चलते पैदल या साइकिल से तो आ–जा नहीं सकते। बस का इस्तेमाल करना ही पड़ता है। तो आने–जाने में अब समय भी ज्यादा लगता है और पैसा भी। विस्थापन की प्रक्रिया में न जाने कितने लोगों का घर का सामान चोरी हो गया और राशनकार्ड व वोटर कार्ड जैसे महत्वपूर्ण दस्तावेज खो गये। बहुत से बच्चों, महिलाओं और बूढ़ों को चोटें खानी पड़ी क्योंकि वे समय रहते बुलडोज़र के रास्ते हे हट नहीं पाये और दीवारें व छत उनके ऊपर आ गिरे। और सभी 100 परिवारों को पुनर्वास का ''लाभ'' उठाने के लिए 5 से 10 फीसदी ब्याज दर पर सात हजार रुपये का ऋण लेना पड़ा। लोगों की बस्ती उजाड़ कर, उन्हें उनकी काम की जगह से 20.25 कि.मी. दूर एक 12ण्5.18 वर्ग मी. के जमीन के टुकड़े पर पटककर सरकार यह समझती है वह लोगों को बहुत फायदा पहुंचा रही है। यह सात हजार रुपये इसी फायदे के लिए लिये जाते हैं। याद रखने लायक बात यह है कि 125.18 वर्ग मी. जमीन जो आज दी जा रही है वह मास्टर प्लान में स्थापित किये गए मानकों का सरासर उल्लंघन है।

सीधे–सीधे जो आर्थिक नुकसान हुआ सो तो हुआ ही, नयी जगह पर बुनियादी सुविधाओं के सर्वथा अभाव ने लोगों की जिन्दगी को और दूभर बना दिया। परिवार दर परिवार यही बात सामने आयी कि पीने का पानी और बिजली भलस्वा में ईद के चाँद की तरह हैं। पीने के पानी की टूटियाँ हैं नहीं, टेंकर कभी–कभार ही दर्शन देता है। और जब आता भी है तो बस्ती के बाहर ही थोड़ी देर खड़ा रहकर वापिस लौट जाता है। इधर खाली बाल्टियां लेकर वापिस घर लौट आते हैं। बिजली भी नहीं है। तब फिर बच्चे पढ़ेंगे कैसेघ और अंधेरे में डर व अनिश्चितता भी तो बनी रहती हैं। तो लोग मोमबत्ती जलाते हैं अंधेरा भगाने के लिए।

बस्ती में राशन की कोई दुकान नहीं है। आस–पास के इलाके में जो दुकानें हैं वे इन लोगों के कार्ड को मानने से इंकार करते हैं। कोई सरकारी डिस्पेंसरी भी नहीं है। आस–पास के इलाके में प्राइवेट डॉक्टर जरूर हैं मगर वे मोटी फीस लेते हैं। इसलिए लोग जब तक बहुत ज्यादा बीमार नहीं होते हैं तब तक वे डाक्टर के पास जाने से कतराते हैं। न शौचालय, न ढलाव, न साफ–सफाई, न नालियां – रोजमर्रा की जिन्दगी की वे तमाम बुनियादी सुविधाएं जिनका शासक–प्रशासक अपनी पक्की कालोनियों में इतना सहज एवं आश्वस्त होकर इस्तेमाल करते हैं, भलस्वा की पुनर्वास कालोनी से नदारद हैं।

सबसे बुरी तो रोजमर्रा की जिन्दगी की असुरक्षा है। नयी कालोनी यानि नये पड़ोसी। लोग एक दूसरे को जानते तक नहीं तो विश्वास कैसे करें। और वो भी तब जब खौफ एवं अनिश्चितता समुची आबोहवा में रच–बस गये हों। केरोसीन और गैस के अभाव में लकड़ी और गोबर के उपले जलाकर खाना बनाना पड़ता है। कच्ची–पक्की दीवारें और छत कब आग पकड़ लें कोई ठिकाना नहीं आग न भी पकडे तो प्रकृति की मार–गर्मी, सर्दी, बरसात – झेलने में तो ये मकान यकीनन बिल्कुल अक्षम हैं। और सर्वव्यापी मच्छरों का तो क्या कहना। दिन में सरकार नींद हराम करती है तो रात में ये मच्छर। खाने को अव्वल तो है ही बहुत कम और जो है वह भी बहुत हिचकिचाहट के साथ ही निगला जा सकता है, क्योंकि धूल की एक मोटी परत हमेशा बस्ती को समेटे रहती है। अक्सर ऐसा होता है कि सुनहरे भविष्य की उम्मीद में लोग वर्तमान का अंधेरा बर्दाश्त कर लेते है। लेकिन यहां तो भविष्य में भी अंधेरे के अलावा और कुछ नहीं दिखायी देता। बच्चों की पढ़ाई लिखायी छूट गयी है क्योंकि आस पास स्कूल है नहीं और पुराने स्कूल इतने दूर हैं कि बच्चे वहां तक पहुंच ही नहीं पाते हैं।

जिस व्यक्ति ने अपनी जिंदगी में कभी विस्थापन का दर्द न झेला हो उसके लिए इस बात की कल्पना करना भी कठिन है कि एक 'गंदी' (लेकिन सुरक्षित) झुग्गी बस्ती से एक 'नयी' (लेकिन वीरान) कालोनी में विस्थापित किये जाने का एक परिवार के लिए क्या मतलब होता है। यह महज भौगोलिक स्थितियों में बदलाव नहीं है यह जिन्दगी का बिल्कुल जड़ से उखड़ जाना है। जिन्दगी की जड़ों का लहुलुहान हो जाना है। इस तरह के बदलाव को सहनीय बनाने के लिए गरीब लोगों को किस तरह से संघर्ष करना पड़ता है यह बात उन लोगों को कैसे समझायी जा सकती है जिन्होंने अपनी जिंदगी में संघर्ष का केवल एक ही रूप जाना है – कैरियर चुनाव का संघर्ष। यही वजह है कि वे तमाम योजनाकार और नौकरशाह, प्रशासक एवं राजनेता, जज व 'सम्मानित' नागरिक जो लुट्यन की वैभवशाली दिल्ली की छाँव में बैठकर शहर की कल्पना करते हैं और उस पर शासन करते हैं, विस्थापन की पीड़ा को

समझने में असमर्थ हैं। ''सम्मानित'' नागरिक सिर्फ एक काम में समर्थ हैं—उन तमाम नागरिकों को कटघरे में खड़ा करना जो उनकी ''नागरिकता'' की परिकल्पना से मेल न खाते हों।

दुनू रॉय